

श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग और आधुनिक जीवनशैली: एक विश्लेषणात्मक साहित्यिक अध्ययन

वीना रानी, सहायक प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, हिसार, हरियाणा

सार (Abstract)

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय चिंतन-परम्परा का ऐसा ग्रन्थ है जो युद्धभूमि के संकट में उपजा, पर जीवन-मात्र के संकटों का उत्तर बन गया। इस शोध-पत्र का उद्देश्य गीता में प्रतिपादित कर्मयोग की अवधारणा का पाठ-आधारित विश्लेषण करना और उसे आधुनिक जीवनशैली की चुनौतियों, अर्थात् कार्य-तनाव, परिणाम-केन्द्रित प्रतिस्पर्धा, बर्नआउट, अर्थहीनता-बोध और असंतुलित दिनचर्या के सन्दर्भ में परखना है। अध्ययन विश्लेषणात्मक साहित्यिक पद्धति पर आधारित है। इसमें मूल श्लोकों, संस्कृत-हिन्दी भाष्यों, आधुनिक भारतीय चिन्तकों की व्याख्याओं, पाश्चात्य विद्वानों के शोध और समकालीन मनोविज्ञान एवं प्रबन्धन-साहित्य का तुलनात्मक पाठ किया गया है। निष्कर्ष यह है कि गीता का कर्मयोग "कर्म-त्याग" नहीं, "कर्म में कौशल" (योग: कर्मसु कौशलम्) का दर्शन है। इसके चार स्तम्भ हैं: कर्म में अधिकार, फलासक्ति का त्याग, सिद्धि-असिद्धि में समत्व और लोकसंग्रह का भाव। ये स्तम्भ आत्म-निर्धारण सिद्धान्त, प्रवाह-अवस्था, अर्थ-केन्द्रित मनोविज्ञान और सजगता-आधारित तनाव-प्रबन्धन जैसी आधुनिक अवधारणाओं से गहरी संगति रखते हैं। साथ ही कर्तव्य-नीति, स्वधर्म की व्याख्या और सामाजिक सन्दर्भ को लेकर कुछ वैचारिक सीमाएँ और विवाद भी हैं, जिनका निष्पक्ष विवेचन यहाँ किया गया है।

कूटशब्द: गीता, कर्मयोग, निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म, लोकसंग्रह, आधुनिक जीवनशैली, बर्नआउट, भारतीय मनोविज्ञान

1. प्रस्तावना

मानव-सभ्यता के इतिहास में कुछ ग्रन्थ अपने काल की सीमा लाँघकर हर युग के प्रश्नों का उत्तर देने लगते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता उनमें अग्रगण्य है। महाभारत के भीष्मपर्व में समाहित सात सौ श्लोकों का यह संवाद अठारह अध्यायों में विभक्त है। इसकी परम्परागत व्याख्याओं में शांकरभाष्य विशेष प्रतिष्ठित है [1]। गीता का आरम्भ अर्जुन के विषाद से होता है। वह कर्तव्य और करुणा, स्वजन-मोह और धर्म-पालन के द्वन्द्व में खड़ा है और उसके हाथ से गाण्डीव छूट रहा है। यह दृश्य आज के मनुष्य को अपरिचित नहीं लगता। आज का पेशेवर, विद्यार्थी, गृहस्थ और उद्यमी भी अपने-अपने कुरुक्षेत्र में खड़ा है, जहाँ अपेक्षाएँ अनन्त हैं, समय सीमित है और परिणाम अनिश्चित।

महाभारत के व्यापक नैतिक ढाँचे में गीता को देखने का प्रयास वी. एस. सुकथंकर जैसे विद्वानों ने किया। उनके अनुसार महाकाव्य का केन्द्रीय प्रश्न धर्म की सूक्ष्म गति और मनुष्य के नैतिक चुनाव का है [2]। इस दृष्टि से गीता युद्ध के औचित्य की कथा से अधिक "कर्म के औचित्य और कर्म की विधि" का शास्त्र है।

आधुनिक जीवनशैली की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक कार्य-सम्बन्धी थकान और तनाव है। क्रिस्टीना मैस्लाच और उनके सहयोगियों ने बर्नआउट को तीन आयामों में परिभाषित किया: भावनात्मक थकावट, कार्य के प्रति निराशा या तटस्थता, और कार्य-क्षमता के बोध में कमी [3]। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने अपने रोग-वर्गीकरण की ग्यारहवीं संशोधित सूची में बर्नआउट को "व्यावसायिक परिघटना" के रूप में स्थान दिया है। इसे कार्यस्थल के ऐसे दीर्घकालिक तनाव का परिणाम बताया गया है जिसका सफल प्रबन्धन

नहीं हो सका [4]। दार्शनिक ब्युंग-चुल हान ने अपने समकालीन समाज-विश्लेषण में "उपलब्धि-समाज" की अवधारणा रखी है, जिसमें व्यक्ति स्वयं ही अपना शोषक बन जाता है और निरन्तर अधिक करने के दबाव में थकान के गर्त में गिरता है [5]।

इन सब निदानों के सामने गीता का कर्मयोग एक भिन्न, पर अत्यन्त प्रासंगिक उत्तर रखता है। यह कर्म से पलायन नहीं सिखाता, न ही कर्म के परिणाम पर मानसिक निर्भरता को स्वीकार करता है। इसका सूत्र है कि कर्म पूर्ण मनोयोग से किया जाए, पर उसके फल से चित्त की बन्धन-रस्सी न बाँधी जाए। बीसवीं शताब्दी के प्रमुख भारतीय चिन्तकों ने गीता को इसी कर्मप्रधान दृष्टि से पढ़ा। लोकमान्य तिलक ने इसे "कर्मयोगशास्त्र" कहा और संन्यास-प्रधान पाठ के मुकाबले प्रवृत्तिमार्ग की स्थापना की [6]। महात्मा गांधी ने इसे "अनासक्तियोग" का नाम दिया और अपने सत्याग्रह-जीवन का मार्गदर्शक माना [7]। श्री अरविन्द ने कर्म, भक्ति और ज्ञान के समन्वय की गहन व्याख्या की [8]। विनोबा भावे ने गीता को "माता" के रूप में जन-सुलभ भाषा में प्रस्तुत किया [9]।

इस शोध-पत्र का प्रयास यह देखना है कि इन प्रतिष्ठित व्याख्याओं, शास्त्रीय भाष्यों और आधुनिक शोध की तुलना से कर्मयोग की क्या प्रामाणिक और व्यावहारिक तस्वीर बनती है।

1.1 शोध-प्रश्न

1. गीता के मूल पाठ में कर्मयोग की केन्द्रीय अवधारणाएँ क्या हैं, और आचार्यों ने उन्हें कैसे समझा है?
2. आधुनिक जीवनशैली की प्रमुख मानसिक और सामाजिक चुनौतियों का स्वरूप क्या है?
3. गीता के कर्मयोग और समकालीन मनोविज्ञान एवं प्रबन्धन के सिद्धान्तों में कहाँ संगति है और कहाँ भेद?
4. कर्मयोग की आलोचनाएँ और सीमाएँ क्या हैं?

1.2 शोध-उद्देश्य

- गीता के कर्मयोग-सम्बन्धी प्रमुख श्लोकों का विश्लेषण करना।
- पूर्ववर्ती शोध-समीक्षाओं का सार और उनके निष्कर्ष प्रस्तुत करना।
- आधुनिक जीवनशैली की समस्याओं के सन्दर्भ में कर्मयोग की व्यावहारिकता का मूल्यांकन करना।
- विभिन्न दृष्टिकोणों (आचार्य-परम्परा, आधुनिक चिन्तक, पाश्चात्य विद्वान, मनोविज्ञान, प्रबन्धन और आलोचनात्मक दृष्टि) से तुलनात्मक विश्लेषण करना।

1.3 शोध-परिकल्पना

कार्यकारी परिकल्पना यह है कि गीता का कर्मयोग आधुनिक जीवन के कार्य-तनाव और अर्थ-संकट को समझने और सँभालने के लिए एक सुसंगत वैचारिक ढाँचा देता है। यह ढाँचा आधुनिक मनोविज्ञान से टकराता नहीं, बल्कि अनेक बिन्दुओं पर उसका पूरक सिद्ध होता है।

2. शोध-पद्धति

यह अध्ययन विश्लेषणात्मक साहित्यिक शोध (Analytical Literary Research) की श्रेणी में आता है। इसमें कोई प्रयोगात्मक आँकड़ा-संकलन नहीं किया गया; सामग्री का चयन और विवेचन निम्न चरणों में हुआ:

प्रथम चरण (पाठ-चयन): गीता के कर्म-सम्बन्धी प्रमुख श्लोकों, विशेषतः द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और अष्टादश अध्यायों के प्रसंगों का चयन।

द्वितीय चरण (भाष्य-अध्ययन): शांकरभाष्य और हिन्दी की लोकप्रिय टीकाओं का अध्ययन।

तृतीय चरण (आधुनिक व्याख्याएँ): तिलक, गांधी, अरविन्द, विनोबा, राधाकृष्णन और विवेकानन्द की व्याख्याओं का विश्लेषण।

चतुर्थ चरण (विद्वत-शोध): पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के अकादमिक शोध तथा प्रबन्धन, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के साहित्य की समीक्षा।

पंचम चरण (तुलनात्मक संश्लेषण): सभी स्रोतों के आधार पर विषयवार तुलना, विसंगतियों की पहचान और निष्कर्ष।

इस अध्ययन में किसी क्रमबद्ध समीक्षा-प्रोटोकॉल का प्रयोग नहीं किया गया। यह चयनात्मक, विवेचनात्मक और तर्क-आधारित साहित्यिक पाठ है, जिसमें स्रोतों की प्रतिनिधिकता और विविधता को महत्व दिया गया है। श्लोक-संख्या और पाठ गीताप्रेस परम्परा के अनुरूप रखे गए हैं।

3. सम्बन्धित शोध एवं साहित्य की समीक्षा (Review of Related Research)

3.1 आचार्य-परम्परा और हिन्दी टीकाकार

गीता की व्याख्या-परम्परा हजार वर्ष से अधिक पुरानी है। आदि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में गीता को मूलतः ज्ञाननिष्ठा का ग्रन्थ माना। उनके अनुसार कर्म चित्तशुद्धि का साधन है, और परम श्रेय ज्ञान से प्राप्त होता है [1]। इस पाठ का "परिणाम" यह है कि कर्मयोग साधन की श्रेणी में रखा गया, साध्य की नहीं। परन्तु शंकर भी यह स्वीकार करते हैं कि अज्ञानी के लिए और लोकसंग्रह के लिए कर्म अपरिहार्य है।

इसके विपरीत बाल गंगाधर तिलक ने "गीता-रहस्य" में तर्क दिया कि गीता का प्रधान प्रतिपाद्य कर्मयोग है और ज्ञान तथा भक्ति उसके सहायक हैं। उन्होंने तुलनात्मक विवेचन में "निवृत्ति" बनाम "प्रवृत्ति" की बहस उठाई और निष्कर्ष निकाला कि गीता निष्काम-प्रवृत्ति की पक्षधर है [6]। इस शोध का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उसने गीता को सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता से जोड़कर व्यावहारिक रूप दिया।

महात्मा गांधी ने गीता के अनुवाद और भाष्य में "अनासक्ति" पर जोर दिया। उनके लिए गीता की शिक्षा का निचोड़ था कि कर्म का त्याग नहीं, कर्मफल का त्याग करना है। उन्होंने इसे सत्य और अहिंसा के साथ जोड़कर जीवन-प्रयोग बनाया [7]। श्री अरविन्द ने अपने निबन्धों में कर्म को केवल नैतिक कर्तव्य नहीं, बल्कि अहंकार से ऊपर उठकर दिव्य इच्छा के साथ एकत्व का साधन माना। उन्होंने कर्म, भक्ति और ज्ञान को एक ही आध्यात्मिक यात्रा के तीन चरण बताया [8]। विनोबा भावे ने सरल भाषा में कर्म को "साधना" और "सेवा" के रूप में प्रस्तुत किया, जिससे गीता जन-जन तक पहुँची [9]।

हिन्दी-क्षेत्र में स्वामी रामसुखदास की "साधक-संजीवनी" गीता की सर्वाधिक पढ़ी जाने वाली सरल टीकाओं में है। इसमें प्रत्येक श्लोक का शब्दार्थ और साधना-परक भावार्थ दिया गया है, और कर्मयोग को साधारण गृहस्थ के दैनिक जीवन से जोड़ा गया है [10]। जयदयाल गोयन्दका की "तत्त्वविवेचनी" भी कर्म, ज्ञान और भक्ति के व्यावहारिक समन्वय पर बल देती है [11]। सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपनी व्याख्या में गीता को हिन्दू चिन्तन की व्यापक परम्परा में रखकर विश्लेषित किया। उनके अनुसार कर्मयोग का सार है कि संसार में रहकर उसके बन्धन से मुक्त रहना [12]। स्वामी विवेकानन्द ने "कर्मयोग" व्याख्याओं में कार्य को पूजा का रूप देने और अनासक्त भाव से कार्य करने की कला पर बल दिया [13]।

3.2 भारतीय दर्शन के हिन्दी-अंग्रेजी इतिहास-ग्रन्थ

बलदेव उपाध्याय के "भारतीय दर्शन" जैसे हिन्दी ग्रन्थों में गीता को प्रस्थानत्रयी के अंग के रूप में देखा गया है, और कर्म-ज्ञान-भक्ति के सम्बन्धों की परम्परागत बहस को स्पष्ट किया गया है [14]। सतीश चन्द्र चटर्जी और धीरेन्द्र मोहन दत्त ने भारतीय दर्शन के परिचय में निष्काम कर्म को धर्म और मोक्ष के सम्बन्ध की धुरी बताया है [15]। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में गीता के दार्शनिक स्वरूप पर विस्तृत चर्चा की, जिसमें सांख्य, योग और वेदान्त के तत्त्वों का संयोग दिखाया गया है [16]। इन ग्रन्थों का समेकित निष्कर्ष है कि गीता किसी एक दार्शनिक सम्प्रदाय की सीमा में बँधकर नहीं समझी जा सकती, बल्कि वह समन्वयी है।

3.3 पाश्चात्य अकादमिक शोध

फ्रैंकलिन एजर्टन ने अपने अनुवाद और व्याख्या में गीता की केन्द्रीय शिक्षा को "अनासक्त कर्म" के रूप में रेखांकित किया [17]। आर. सी. जेहन्नर ने अपनी व्याख्या में गीता को आस्तिक और ईश्वर-केन्द्रित पाठ के रूप में पढ़ा, जहाँ कर्म का अन्तिम आधार ईश्वर-समर्पण है [18]। रॉबर्ट माइनर की "एक्जैजेटिकल कमेंट्री" श्लोक-दर-श्लोक व्याख्या में पारम्परिक भाष्यकारों के मतभेदों को सामने रखती है [19]। एल्फ्र माल्मर ने "द भगवद्गीता: डॉक्ट्रिन्स एंड कॉन्टेक्स्ट्स" में गीता की शिक्षाओं को महाभारत और उसके ऐतिहासिक-वैचारिक सन्दर्भों में पढ़ा। इससे स्पष्ट होता है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति के सिद्धान्त एक ही पाठ में विभिन्न परम्पराओं के संवाद से उपजे हैं [20]।

इन सभी अध्ययनों का साझा परिणाम यह है कि कर्मयोग को गीता की केन्द्रीय शिक्षा मानने में पर्याप्त सहमति है, जबकि उसके अन्तिम लक्ष्य (ज्ञान, भक्ति या लोकसंग्रह) पर मतभेद बने रहते हैं।

3.4 भारतीय मनोविज्ञान और प्रबन्धन-शोध

दया कृष्ण भवुक ने "स्पिरिचुअलिटी एंड इंडियन साइकोलॉजी" में गीता को भारतीय मनोविज्ञान का एक प्रमुख स्रोत माना। उन्होंने निष्काम कर्म और आत्म-नियमन को स्वयं और व्यवहार के मॉडल के रूप में विकसित करने का प्रयास किया [21]। के. रामकृष्ण राव और अनन्त पराज्जपे ने भारतीय परम्परा के मनोविज्ञान पर संकलन में गीता को आत्म, मन और कर्म की अवधारणाओं का स्रोत बताया [22]।

जरीन मुल्ला और वेंकट कृष्णन ने "कर्म-योग: द इंडियन मॉडल ऑफ़ मॉरल डेवलपमेंट" में कर्मयोग को नैतिक विकास के भारतीय प्रतिमान के रूप में विश्लेषित किया। उन्होंने परिणाम से अनासक्ति, कर्तव्य-भाव और ईश्वर-समर्पण जैसे घटकों को नैतिक परिपक्वता से जोड़ा [23]।

प्रबन्धन के क्षेत्र में एस. के. चक्रवर्ती ने "फ़ाउण्डेशंस ऑफ़ मैनेजेरियल वर्क: कॉन्ट्रिब्यूशंस फ़्रॉम इंडियन थॉट" में भारतीय चिन्तन से प्रबन्धकीय कार्य की नैतिक नींव निकालने का प्रयास किया [24]। बाद में चक्रवर्ती और डी. चक्रवर्ती ने "स्पिरिचुअलिटी इन मैनेजमेंट: मीन्स ऑर एंड?" में प्रश्न उठाया कि संगठन में अध्यात्म साधन है या साध्या। उन्होंने चेताया कि गीता के सिद्धान्तों को केवल उत्पादकता का उपकरण बना देना उसकी आत्मा के विपरीत है [25]। मुनियान और सतपथी ने गीता के धर्म और कर्म की अवधारणाओं के आधार पर निगमित सामाजिक उत्तरदायित्व (CSR) का वैचारिक ढाँचा प्रस्तुत किया [26]। पाण्डेय, गुप्ता और अरोड़ा ने व्यावसायिक संगठनों के आध्यात्मिक वातावरण और ग्राहक-अनुभव के सम्बन्ध का अध्ययन किया और सकारात्मक सम्बन्ध के संकेत पाए [27]। जे. बी. पी. सिन्हा ने भारतीय कार्य-संस्कृति के अध्ययन में यह रेखांकित किया कि भारतीय सन्दर्भ में प्रबन्धन-सिद्धान्तों को स्थानीय मूल्यों और सांस्कृतिक अवधारणाओं से जोड़कर देखना आवश्यक है [28]।

3.5 समीक्षा का समेकित मूल्यांकन

उपर्युक्त समीक्षा से तीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होती हैं।

पहली, शास्त्रीय और आधुनिक व्याख्याकार कर्मयोग के केन्द्रीय तत्त्व (फलासक्ति-त्याग) पर लगभग एकमत हैं, पर उसके लक्ष्य पर उनमें मतभेद है।

दूसरी, अकादमिक शोध का बड़ा भाग वैचारिक या पाठ-आधारित है। प्रयोगात्मक अध्ययन कम हैं, और जो हैं वे प्रायः प्रबन्धन एवं संगठनात्मक व्यवहार के छोटे नमूनों पर आधारित हैं।

तीसरी, समकालीन शोध में गीता के सिद्धान्तों का "उपयोगितावादी" प्रयोग बढ़ रहा है, जिस पर स्वयं भारतीय प्रबन्धन-विद्वानों ने सावधानी की सलाह दी है [25]।

यह अध्ययन इसी अन्तराल को भरने का प्रयास करता है। यह मूल पाठ की निष्ठा बनाए रखते हुए उसे आधुनिक जीवन-सन्दर्भ में परखता है।

4. गीता के कर्मयोग का वैचारिक विश्लेषण

4.1 कर्म की अपरिहार्यता

गीता कर्म को ऐच्छिक नहीं, प्रकृतिगत अनिवार्यता के रूप में देखती है। तृतीय अध्याय का यह श्लोक इस दृष्टि का आधार है:

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गीता 3.5)

अर्थात् कोई भी प्राणी क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुण उसे विवश होकर कर्म में प्रवृत्त करते हैं। इसका आधुनिक निहितार्थ यह है कि "कुछ न करना" भी एक चुनाव है, जिसके अपने परिणाम हैं। इसलिए प्रश्न कर्म करने या न करने का नहीं, कर्म की गुणवत्ता और मानसिक अवस्था का है।

इसी विचार को ईशावास्योपनिषद् के प्रसिद्ध मन्त्र ने पहले ही व्यक्त कर दिया था:

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरो॥ (ईशावास्य 2)

अर्थात् कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो; इस प्रकार तुम्हारे लिए कर्म का लेप नहीं लगेगा [29]। गीता का कर्मयोग इसी उपनिषद्-सूत्र का विस्तार है, जिसमें कर्म और बन्धन के बीच के सम्बन्ध को तोड़ने की विधि बताई गई है।

यह भी उल्लेखनीय है कि पतंजलि ने "क्रियायोग" के अन्तर्गत तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को साधना का आधार बताया (योगसूत्र 2.1) [30]। यहाँ भी क्रिया को योग का माध्यम माना गया है, बाधा नहीं।

4.2 कर्मण्येवाधिकारस्तेः अधिकार और उसकी सीमा

कर्मयोग का सर्वाधिक उद्धृत सूत्र द्वितीय अध्याय में आता है:

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता 2.47)

इस श्लोक में चार निर्देश समाहित हैं: (क) तुम्हारा अधिकार केवल कर्म पर है; (ख) फल पर कभी नहीं; (ग) कर्मफल को कर्म का हेतु मत बनाओ; (घ) अकर्म में भी आसक्ति मत रखो। विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि गीता फल की उपेक्षा नहीं कहती, वह फल पर नियन्त्रण के भ्रम की ओर संकेत करती है। फल अनेक कारकों (परिस्थिति, अन्य लोगों के कर्म, समय और प्रारब्ध) पर निर्भर है, जबकि कर्ता के हाथ में प्रयास, दिशा और सजगता है। अठारहवें अध्याय में गीता कर्म-सिद्धि के पाँच कारण गिनाती है, जिससे यही विनम्र दृष्टि पुष्ट होती है कि कर्ता अकेला कारण नहीं है।

आचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या में कई सूक्ष्मताएँ देखीं। स्वामी रामसुखदास के अनुसार "मा फलेषु कदाचन" का अर्थ फल की कामना का निषेध है, फल की प्राप्ति का निषेध नहीं [10]। गांधी ने इसे अपने जीवन-दर्शन का आधार बनाकर कहा कि कर्म-निष्ठा और परिणाम-उदासीनता साथ-साथ चल सकती हैं [7]। तिलक ने इस श्लोक में "कर्म-सम्बन्धी अधिकार" को नैतिक उत्तरदायित्व के रूप में पढ़ा [6]।

4.3 समत्वः योग की परिभाषा

द्वितीय अध्याय में ही गीता योग की परिभाषा देती है:

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (गीता 2.48)

"सिद्धि और असिद्धि में सम रहना ही योग कहलाता है।" यह परिभाषा योग को आसन-प्राणायाम की तकनीक से आगे बढ़ाकर मानसिक सन्तुलन की अवस्था बना देती है। आज के शब्दों में इसे भावनात्मक नियमन और मानसिक लचीलापन कहा जा सकता है। सफलता में उन्माद और असफलता में अवसाद, दोनों से मुक्त रहना ही समत्व है।

इसी क्रम में गीता का प्रसिद्ध उद्धोष है:

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ (गीता 2.50)

"कर्मों में कुशलता ही योग है।" यहाँ "कौशल" का अर्थ केवल तकनीकी दक्षता नहीं है। शांकरभाष्य के अनुसार यह वह कुशलता है जिससे कर्म बन्धन नहीं बनता [1]। इसका अर्थ है कर्म करने की ऐसी विधि जिसमें कर्ता का मन क्लेश, चिन्ता और अहंकार से बोझिल न हो। इस दृष्टि से कर्मयोग "कैसे करना" का विज्ञान है।

4.4 सुख-दुःख के द्वन्द्वों में तितिक्षा

द्वितीय अध्याय में ही सहनशीलता का पाठ मिलता है:

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (गीता 2.14)

अनुभव आते-जाते हैं और अनित्य हैं, अतः उन्हें सहन करने की क्षमता विकसित करनी चाहिए। यह उपदेश आज की "तत्काल-सन्तुष्टि" संस्कृति के लिए विशेष सार्थक है। असफलता और आलोचना को अन्तिम सत्य न मानकर क्षणिक अनुभव के रूप में देखने की दृष्टि इसमें निहित है।

4.5 अकर्म में कर्म और कर्म में अकर्म

चतुर्थ अध्याय कर्म की सबसे सूक्ष्म पहेली प्रस्तुत करता है:

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गीता 4.18)

जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान है। इसका एक अर्थ यह है कि बाहर से सक्रिय दिखने वाला व्यक्ति भीतर से आसक्ति-रहित होने पर कर्म-बन्धन से मुक्त है, जबकि बाहर से निष्क्रिय व्यक्ति भीतर मानसिक कोलाहल और कामना से भरा होने पर वस्तुतः कर्म में ही उलझा है। इसी क्रम में एक और श्लोक कहता है:

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ (गीता 4.20)

कर्मफल की आसक्ति छोड़कर, आत्म-तृप्त और निराश्रय व्यक्ति कर्म में लगा हुआ भी वस्तुतः कुछ नहीं करता। "आत्म-तृप्ति" का यह भाव आज की भाषा में आन्तरिक प्रेरणा का स्रोत है, अर्थात् आनन्द बाहरी पुरस्कार पर नहीं, कर्म के भीतर से आता है।

4.6 कर्तृत्व-अभिमान का विसर्जन

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता 3.27)

अहंकार से मोहित व्यक्ति स्वयं को ही कर्ता मानता है। यह श्लोक "मैं ही सब कुछ करता हूँ" की मानसिकता की जड़ पर प्रहार करता है। जब व्यक्ति सफलता का पूरा श्रेय स्वयं लेता है, तब असफलता का पूरा बोझ भी उसी पर आता है। कर्तृत्व-भाव में संयम व्यक्ति को दोनों अतियों से बचाता है।

पंचम अध्याय का प्रसिद्ध दृष्टान्त इसी अवस्था को चित्रित करता है:

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ (गीता 5.10)

जो आसक्ति छोड़कर, कर्मों को ईश्वर में अर्पित करके कर्म करता है, वह कमल के पत्ते की भाँति जल से लिप्त नहीं होता। यह उपमा कर्मयोगी की "संसार में रहकर अलिप्त" रहने की स्थिति दर्शाती है।

4.7 यज्ञ और लोकसंग्रहः कर्म का सामाजिक आयाम

गीता का कर्मयोग व्यक्तिगत मानसिक शान्ति तक सीमित नहीं है। उसका समाज-आयाम भी उतना ही सुदृढ़ है:

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (गीता 3.9)

यज्ञ के निमित्त किए गए कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं; अतः आसक्ति से मुक्त होकर यज्ञार्थ कर्म करो। यहाँ "यज्ञ" का आशय व्यापक है, अर्थात् लोकहित के लिए किया गया, स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ कर्म। इसी को आगे स्पष्ट किया गया है:

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥ (गीता 3.20)

जनक आदि ने कर्म से ही सिद्धि पाई। लोकसंग्रह की दृष्टि से भी तुम्हें कर्म करना चाहिए। और अगले ही श्लोक में:

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (गीता 3.21)

श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करता है, अन्य लोग उसी का अनुसरण करते हैं। इसका आधुनिक निहितार्थ नेतृत्व और आदर्श-आचरण में देखा जा सकता है। संगठन और परिवार, दोनों में नेतृत्व का सबसे प्रभावी माध्यम उदाहरण है।

तृतीय अध्याय का एक और महत्वपूर्ण श्लोक:

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (गीता 3.19)

अतः आसक्ति-रहित होकर सदा कर्तव्य-कर्म करो; आसक्ति-रहित कर्म करने वाला परम को प्राप्त करता है।

4.8 स्वधर्म और उसकी व्याख्या

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (गीता 3.35)

अपना धर्म गुणरहित होकर भी दूसरे के भली-भाँति आचरित धर्म से श्रेष्ठ है। अठारहवें अध्याय में इसी विचार का विस्तार मिलता है:

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥ (गीता 18.45)
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (गीता 18.46)

अपने-अपने कर्म में लगा मनुष्य सिद्धि पाता है, और अपने कर्म के द्वारा परमेश्वर का पूजन करके सिद्धि प्राप्त करता है। इन श्लोकों की परम्परागत व्याख्या वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ में हुई है, जबकि आधुनिक व्याख्याकार, विशेषतः गांधी, विनोबा और अरविन्द, इसे स्वभाव, प्रकृति और अन्तःप्रेरणा के अनुरूप कर्म-चयन के रूप में पढ़ते हैं [7-9]। यह विवाद का क्षेत्र भी है, जिसकी चर्चा अगले खण्डों में की गई है।

4.9 कर्मयोग और आत्म-संयम

छठे अध्याय में गीता आत्म-नियन्त्रण को कर्मयोग का पूरक बताती है:

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (गीता 6.5)

मनुष्य को स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए, स्वयं को गिराना नहीं चाहिए; आत्मा ही आत्मा का मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। यह श्लोक आत्म-नियमन और आन्तरिक जवाबदेही का सूत्र है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (गीता 6.35)

चंचल मन को निग्रह करना कठिन अवश्य है, पर अभ्यास और वैराग्य से वह वश में होता है। पतंजलि के योगसूत्र में भी "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (1.12) कहकर यही सूत्र दिया गया है [30]।

4.10 सजगता का पतन-क्रम

आसक्ति से बुद्धि-नाश तक का मनोवैज्ञानिक क्रम गीता बहुत स्पष्टता से दिखाती है:

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ (गीता 2.62)
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (गीता 2.63)

विषयों का चिन्तन आसक्ति को जन्म देता है, आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति-भ्रम से बुद्धि-नाश और अन्ततः विनाश होता है। यह एक श्रृंखलाबद्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, जिसे आज के तनाव, आवेग और निर्णय-विकृति की प्रक्रियाओं से जोड़ा जा सकता है।

5. आधुनिक जीवनशैली: स्वरूप और चुनौतियाँ

5.1 कार्य-संस्कृति और अत्यधिक माँगें

आधुनिक जीवनशैली की विशेषताएँ हैं: तेज़ गति, डिजिटल निरन्तरता, प्रदर्शन-आधारित मूल्यांकन, अनिश्चित रोजगार और निरन्तर तुलना। बाकर और डेमेरूटी के "कार्य-माँग और संसाधन" (Job Demands–Resources) मॉडल के अनुसार, जब कार्य की माँगें

उपलब्ध संसाधनों से अधिक हो जाती हैं तो थकान और तनाव बढ़ता है, जबकि पर्याप्त संसाधन प्रेरणा और संलग्नता बढ़ाते हैं [31]। यह मॉडल दिखाता है कि तनाव केवल कार्य की मात्रा से नहीं, माँग और संसाधन के असन्तुलन से उत्पन्न होता है।

5.2 तनाव का आकलन और मुकाबला

रिचर्ड लाज़रस और सुसान फ़ोकमैन के तनाव-मूल्यांकन सिद्धान्त के अनुसार तनाव घटना से नहीं, उस घटना के व्यक्तिगत आकलन और उससे निपटने की क्षमता के बोध से उत्पन्न होता है। उन्होंने समस्या-केन्द्रित और भावना-केन्द्रित, दो प्रकार की मुकाबला-रणनीतियाँ बताईं [32]। यहाँ गीता का समत्व और तितिक्षा (2.14, 2.48) भावना-नियमन की रणनीति से मेल खाते हैं, जबकि "योगः कर्मसु कौशलम्" समस्या-समाधान की ओर संकेत करता है।

5.3 उपलब्धि-समाज और आत्म-शोषण

हान का विश्लेषण बताता है कि आधुनिक समाज में बाहरी अनुशासन की जगह आन्तरिक दबाव ने ले ली है। "तुम कर सकते हो" का आदर्श व्यक्ति को अनन्त प्रदर्शन के चक्र में धकेलता है, जिसकी परिणति थकान और अवसाद में होती है [5]। गीता का "मा फलेषु कदाचन" इस मनोवृत्ति का सीधा प्रतिवाद है। यह उपलब्धि को नकारता नहीं, उपलब्धि को व्यक्ति के मूल्य से अलग करता है।

5.4 अर्थ-संकट और असन्तुलित दिनचर्या

अत्यधिक भौतिक सुविधाओं के बावजूद मनुष्य के भीतर अर्थहीनता की भावना बढ़ती दिखती है। साथ ही आहार, निद्रा और विश्राम का असन्तुलन आम है। गीता का छठे अध्याय का सूत्र इस पर सीधे बोलता है:

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता 6.17)

जिसका आहार-विहार, कर्म-चेष्टा और निद्रा-जागरण नियमित और सन्तुलित है, उसका योग दुःखनाशक होता है। यह सूत्र स्पष्ट करता है कि कर्मयोग केवल "मनोवृत्ति" का नहीं, "जीवन-शैली" का भी विषय है।

6. तुलनात्मक विश्लेषण: गीता का कर्मयोग और आधुनिक शोध

6.1 आत्म-निर्धारण सिद्धान्त और निष्काम कर्म

रयान और डेसी के आत्म-निर्धारण सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य में तीन मूल मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ हैं: स्वायत्तता, सक्षमता और सम्बद्धता। जब कार्य आन्तरिक प्रेरणा से किया जाता है तो प्रदर्शन, कल्याण और दृढ़ता बढ़ती है, जबकि केवल बाहरी पुरस्कार पर निर्भर प्रेरणा दीर्घकालिक रूप से कमजोर होती है [33]।

तुलना: गीता का "कर्मण्येवाधिकारस्ते" आन्तरिक प्रेरणा की ओर संकेत करता है, जिसमें कर्म स्वयं में सार्थक है। "नित्यतृप्तो निराश्रयः" (4.20) आन्तरिक सन्तोष का भाव है। "यज्ञार्थं कर्म" और "लोकसंग्रह" सम्बद्धता से मेल खाते हैं, और "योगः कर्मसु कौशलम्" सक्षमता से।

भेद: आत्म-निर्धारण सिद्धान्त व्यक्ति की स्वायत्तता पर बल देता है, जबकि गीता में कर्म का अन्तिम अर्पण ईश्वर या समष्टि को है, जहाँ "मैं" का विलयन लक्ष्य है। अतः दोनों की संगति गहरी है, पर अन्तिम लक्ष्य में अन्तर है।

6.2 लक्ष्य-निर्धारण सिद्धान्त और फल-आसक्ति का प्रश्न

एडविन लॉक और गैरी लैथम के शोध-संश्लेषण के अनुसार स्पष्ट और चुनौतीपूर्ण लक्ष्य प्रदर्शन को बेहतर बनाते हैं, बशर्ते व्यक्ति उन लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्ध हो और उसे प्रतिक्रिया मिलती रहे [34]।

यहाँ एक स्पष्ट प्रश्न उठता है कि यदि गीता फल की आसक्ति छोड़ने को कहती है तो क्या वह लक्ष्य-निर्धारण का विरोध करती है? विश्लेषण बताता है कि नहीं। गीता लक्ष्य का निषेध नहीं करती, बल्कि लक्ष्य के प्रति मानसिक निर्भरता का निषेध करती है। अर्जुन को युद्ध का स्पष्ट उद्देश्य और कर्तव्य बताया गया है, पर उसे परिणाम-चिन्ता से मुक्त होने को कहा गया है। इस प्रकार "प्रक्रिया-केन्द्रित लक्ष्य" और "परिणाम-मुक्त प्रयास" का संयोग गीता-दृष्टि की विशेषता है। इस बिन्दु पर वह लक्ष्य-निर्धारण सिद्धान्त की पूरक है, विरोधी नहीं।

6.3 प्रवाह-अवस्था और कर्म में तल्लीनता

मिहाली चिक्सेंटमिहाई ने "फ़्लो" की अवधारणा दी, जो ऐसी अवस्था है जिसमें चुनौती और कौशल का सन्तुलन होता है, लक्ष्य स्पष्ट होते हैं, तत्काल प्रतिक्रिया मिलती है और व्यक्ति का आत्म-चेतन भाव क्षीण हो जाता है [35]।

तुलना: गीता का "कर्मयोगी" ऐसी ही तल्लीनता का चित्र है, जहाँ कर्ता का अहं (3.27) और परिणाम-चिन्ता (2.47) दोनों शिथिल हैं। "योगः कर्मसु कौशलम्" कौशल का पक्ष सामने रखता है। इसलिए कर्मयोग को "आध्यात्मिक फ़्लो" के रूप में देखा जा सकता है।

भेद: फ़्लो एक अनुभव-अवस्था है जो अनायास भी आ सकती है, जबकि कर्मयोग एक जीवन-दृष्टि और नैतिक साधना है, जिसमें कर्म का लक्ष्य लोकहित और आत्म-शुद्धि भी है।

6.4 अर्थ-केन्द्रित मनोविज्ञान

विक्टर फ्रैंकल ने यातना-शिविरों के अनुभव के आधार पर "अर्थ की इच्छा" (will to meaning) को मानव का प्रमुख प्रेरक बताया। उनका निष्कर्ष था कि जीवन का अर्थ कर्म, अनुभव और कष्ट के प्रति दृष्टिकोण, इन तीन मार्गों से पाया जा सकता है [36]।

गीता का कर्मयोग "कर्म के द्वारा अर्थ" का मार्ग है। स्वधर्म (18.45-46) यह संकेत देता है कि कर्म तभी सार्थक होता है जब वह व्यक्ति की प्रकृति और समाज की आवश्यकता के मेल में हो। साथ ही तितिक्षा (2.14) कष्ट के प्रति दृष्टिकोण की शिक्षा देती है। फ्रैंकल और गीता, दोनों मानते हैं कि परिस्थितियों को बदलना सदा सम्भव नहीं, पर उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया चुनना सदा सम्भव है।

6.5 सजगता और अनासक्त उपस्थिति

जॉन कबात-ज़िन का सजगता-आधारित तनाव-न्यूनीकरण कार्यक्रम वर्तमान क्षण में निर्णय-रहित ध्यान पर आधारित है [37]। शर्मा और रश ने इस कार्यक्रम पर उपलब्ध शोध की समीक्षा में स्वस्थ जनसंख्या में तनाव घटाने में इसके लाभकारी होने के प्रमाण की चर्चा की [38]।

गीता का "अभ्यास और वैराग्य" (6.35) और "समत्व" (2.48) इस उपस्थिति की परम्परागत भूमि है। फिर भी सजगता का आधुनिक कार्यक्रम प्रायः धर्म-निरपेक्ष और तकनीक-केन्द्रित है, जबकि गीता उसे नैतिक और आध्यात्मिक संदर्भ में रखती है, जहाँ कर्म का लक्ष्य केवल तनाव-कमी नहीं, जीवन-रूपान्तरण है।

6.6 कार्य का पुनर्आकार और स्वधर्म

आमी ब्रजेस्नियेव्स्की और जेन डटन ने "जॉब क्राफ्टिंग" की अवधारणा दी, जिसमें कर्मचारी अपने कार्य के स्वरूप, सम्बन्धों और अर्थबोध को स्वयं नए सिरे से गढ़ते हैं और इस तरह अपने कार्य को अधिक सार्थक बनाते हैं [39]।

गीता का "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" (18.46) अर्थात् अपने कर्म को ही पूजा बनाना, इसी अवधारणा का दार्शनिक पूर्वरूप जान पड़ता है। एक ही कार्य, चाहे सफाई हो, अध्यापन हो या प्रशासन, दृष्टि बदलने से साधना बन जाता है।

6.7 आत्म-प्रभाविता और आत्म-विश्वास

अल्बर्ट बंडूरा के आत्म-प्रभाविता सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का यह विश्वास कि वह किसी कार्य को कर सकता है, उसके प्रयास, दृढ़ता और उपलब्धि को प्रभावित करता है [40]। गीता का "उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्" (6.5) आत्म-विश्वास और आत्म-उत्तरदायित्व की भावना जगाता है। अर्जुन का विषाद आत्म-प्रभाविता के पतन का ही रूप है, और कृष्ण का पूरा उपदेश उसकी पुनर्स्थापना है।

6.8 सकारात्मक मनोविज्ञान की दृष्टि

मार्टिन सेलिगमैन और चिक्सेंटमिहाई ने सकारात्मक मनोविज्ञान को मानव-सामर्थ्य, सद्गुण और कल्याण के अध्ययन का क्षेत्र बताया, जो केवल रोग-निवारण से आगे बढ़कर उत्कर्ष को महत्त्व देता है [41]। गीता का दैवी सम्पदा-चित्रण (अध्याय 16) और स्थितप्रज्ञ का वर्णन (2.54-72) मानव-श्रेष्ठता का शास्त्रीय प्रतिरूप है। आधुनिक सकारात्मक मनोविज्ञान उसकी अनेक बातों की पुष्टि प्रयोगशाला और सर्वेक्षणों की भाषा में करता है।

6.9 पाश्चात्य नीतिशास्त्र से तुलना: कांट, अरस्तू और वेबर

कांट का कर्तव्य-सिद्धान्त। इमानुएल कांट के अनुसार नैतिक कर्म वह है जो कर्तव्य के लिए, कर्तव्य-बुद्धि से किया जाए, न कि झुकाव या परिणाम की इच्छा से [42]। ऊपरी तौर पर यह गीता के "कर्तव्यमिति" और "मा फलेषु" से मिलता है। किन्तु गहरे विश्लेषण में तीन अन्तर दिखते हैं। पहला, कांट भावनाओं को नैतिक प्रेरणा से अलग रखते हैं, जबकि गीता समत्व और भक्ति के रूप में भावनाओं का रूपान्तरण करती है। दूसरा, कांट का नैतिक नियम विवेक की सार्वभौम पद्धति है, जबकि गीता स्वधर्म और परिस्थिति-सापेक्षता को महत्त्व देती है। तीसरा, गीता में कर्म का अर्पण ईश्वर को है, जो कांट के औपचारिक कर्तव्य-बोध में नहीं मिलता।

अरस्तू की सद्गुण-नीति। अरस्तू ने सद्गुण को "मध्यम मार्ग" और श्रेष्ठ जीवन (यूडेमोनिया) को सद्गुण-अनुरूप क्रियाशीलता माना [43]। गीता का "युक्ताहारविहार" (6.17) मध्यम मार्ग की सिफारिश करता है, और कर्म में कुशलता श्रेष्ठ जीवन की क्रियाशीलता से मेल खाती है। भेद यह है कि अरस्तू का लक्ष्य नागरिक-जीवन में सुख-सम्पन्नता है, जबकि गीता का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या परम शान्ति है।

वेबर का कर्म-आचार। मैक्स वेबर ने अपने प्रसिद्ध अध्ययन में प्रोटेस्टेंट कार्य-नैतिकता को "बुलावा" (calling) की भावना और सांसारिक तपस्या से जोड़ा, जिसने पूँजीवादी अनुशासन और संचय को बल दिया [44]। गीता का स्वधर्म भी कर्म को दायित्व और पूजा के रूप में देखता है, किन्तु उसका जोर संचय पर नहीं, अनासक्ति पर है। वेबर की परम्परा में कर्म-निष्ठा प्रायः सफलता के चिह्न

से जुड़ जाती है, जबकि गीता उसे सफलता और असफलता, दोनों से मुक्त रखती है। यह अन्तर आधुनिक उपभोक्तावादी कार्य-संस्कृति की आलोचना का आधार बन सकता है।

6.10 तुलना का सारांश

गीता के कर्मयोग की संगति पाँच स्तरों पर देखी गई: प्रेरणा (आत्म-निर्धारण), लक्ष्य-व्यवहार (लक्ष्य-सिद्धान्त), अनुभव-अवस्था (फ़्लो), अर्थ (फ़ैकल) और मानसिक नियमन (सजगता)। भिन्नता मुख्यतः तीन बातों में दिखी: गीता का ईश्वर-अर्पण का भाव, लोकसंग्रह की सामाजिक दृष्टि और मोक्ष का परम लक्ष्य। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर्मयोग आधुनिक मनोविज्ञान की कई खोजों से संगत है, पर उसे केवल "तनाव-प्रबन्धन की तकनीक" तक सीमित करना उसके क्षेत्र को संकुचित करना होगा।

7. विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण

7.1 अद्वैत-परम्परा की दृष्टि

शांकरभाष्य के अनुसार कर्मयोग चित्तशुद्धि का साधन है और अन्तिम मुक्ति ज्ञान से मिलती है [1]। इस दृष्टि से आधुनिक जीवन में कर्मयोग एक प्रारम्भिक साधना है जो मन को स्थिर करती है, और उसका चरम फल आत्म-साक्षात्कार है। इस मत का लाभ यह है कि कर्म को निरन्तर आत्मशोधन से जोड़े रखता है। इसकी सीमा यह हो सकती है कि सामान्य कर्मशील व्यक्ति के लिए इसे "निम्न सोपान" मानने की प्रवृत्ति बन जाए।

7.2 कर्मप्रधान आधुनिक दृष्टि: तिलक और गांधी

तिलक और गांधी ने गीता से सक्रिय सामाजिक कर्म का सन्देश ग्रहण किया [6,7]। यह दृष्टि आज नागरिक-कर्तव्य, सामाजिक उद्यमिता और सेवा-कर्म के लिए प्रेरणा दे सकती है। इसकी शक्ति व्यावहारिकता में है। पर आलोचकों का तर्क रहा है कि "अनासक्ति" की भाषा को राजनीतिक या सामाजिक अन्याय की स्थिति में निष्क्रिय स्वीकृति के रूप में भी पढ़ा जा सकता है, जिसका उत्तर गांधी की सक्रिय अहिंसा और सत्याग्रह में मिलता है।

7.3 समन्वयवादी दृष्टि: अरविन्द और राधाकृष्णन

श्री अरविन्द ने कर्म को अहंकार से ऊपर उठकर दिव्य चेतना के साथ एकत्व का साधन माना, जहाँ कर्म, ज्ञान और भक्ति एक ही आध्यात्मिक विकास के अंग हैं [8]। राधाकृष्णन ने भी समन्वय पर बल दिया [12]। आधुनिक जीवन के लिए इस दृष्टि का अर्थ यह है कि कर्म, चिन्तन और भावना, तीनों का संतुलन आवश्यक है, अकेली कार्यकुशलता पर्याप्त नहीं।

7.4 भक्ति-केन्द्रित दृष्टि

जेहनर जैसे विद्वान गीता को ईश्वर-केन्द्रित और भक्तिमूलक पाठ के रूप में देखते हैं [18]। इस दृष्टि से कर्म का सर्वोच्च रूप ईश्वर-अर्पण है और आसक्ति-त्याग उसी अर्पण की स्वाभाविक परिणति। आस्थावान व्यक्ति के लिए यह गहरी मानसिक शान्ति का स्रोत है। किन्तु धर्म-निरपेक्ष या नास्तिक पाठकों के लिए "ईश्वर-अर्पण" को "समष्टि-अर्पण" या "मूल्य-अर्पण" के रूप में पुनः व्याख्यायित करना पड़ेगा।

7.5 ऐतिहासिक-आलोचनात्मक दृष्टि

माल्त्र जैसे विद्वान गीता को महाभारत के ऐतिहासिक और वैचारिक सन्दर्भ में पढ़ते हैं, जहाँ गीता की शिक्षाएँ बहु-परम्परागत संवाद के रूप में उभरी हैं [20]। सुकथंकर की दृष्टि भी महाकाव्य के व्यापक नैतिक विमर्श से गीता को जोड़ती है [2]। यह दृष्टि हमें याद दिलाती है कि गीता के किसी श्लोक को उसके सन्दर्भ से काटकर आधुनिक "प्रेरक उद्धरण" बना देना अधूरा पाठ है। अर्जुन का प्रश्न एक विशिष्ट युद्ध-परिस्थिति में था।

7.6 प्रबन्धन और नैतिकता की दृष्टि

चक्रवर्ती ने भारतीय चिन्तन से प्रबन्धन की नैतिक नींव निकालने का प्रयास किया [24], परन्तु चक्रवर्ती और चक्रवर्ती की परवर्ती चेतावनी भी उतनी ही महत्वपूर्ण है कि अध्यात्म को उत्पादकता का साधन मात्र बना देना उसके स्वभाव का हास है [25]। मुनियामन और सतपथी का CSR-सम्बन्धी विश्लेषण दिखाता है कि धर्म और कर्म की गीता-आधारित अवधारणाएँ संगठन के सामाजिक दायित्वों के लिए वैचारिक आधार दे सकती हैं [26]। पाण्डेय और सहयोगियों के अध्ययन के संकेत बताते हैं कि आध्यात्मिक वातावरण का सम्बन्ध ग्राहक-अनुभव से हो सकता है [27], यद्यपि ऐसे अध्ययन सीमित सन्दर्भ में हुए हैं और उनके सामान्यीकरण में सावधानी आवश्यक है। सिन्हा का अध्ययन याद दिलाता है कि भारतीय संगठनों में कार्य-संस्कृति के विश्लेषण में स्थानीय मूल्यों का ध्यान रखना होगा [28]।

7.7 भारतीय मनोविज्ञान की दृष्टि

भवुक ने निष्काम कर्म को आत्म-नियमन और स्वयं के मॉडल के रूप में विकसित करने का प्रयास किया [21], और राव तथा पराज्जपे के संकलन में गीता भारतीय मनोविज्ञान का स्रोत ग्रन्थ है [22]। मुल्ला और कृष्णन का कर्मयोग-आधारित नैतिक विकास का प्रतिमान इस दिशा का एक और योगदान है [23]। यह दृष्टि गीता को केवल धर्मग्रन्थ नहीं, मानव-व्यवहार के अध्ययन का सैद्धान्तिक स्रोत भी मानती है। सीमा यह है कि अनुभवजन्य पुष्टि अभी सीमित है।

7.8 आलोचनात्मक दृष्टि: सीमाएँ और प्रश्न

निष्पक्ष विश्लेषण के लिए कुछ प्रश्न भी उठाने आवश्यक हैं।

पहला प्रश्न: क्या "फल की आसक्ति का त्याग" व्यावहारिक रूप से सम्भव है? मनुष्य की प्रेरणा-प्रणाली में अपेक्षा और पुरस्कार की भूमिका स्वाभाविक है। आत्म-निर्धारण सिद्धान्त भी बाहरी पुरस्कारों को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करता, केवल उनके नियन्त्रणकारी प्रभाव की सीमा बताता है [33]। अतः कर्मयोग को "अपेक्षा-शून्यता" के बजाय "अपेक्षा-विवेक" के रूप में समझना अधिक व्यावहारिक है।

दूसरा प्रश्न: क्या स्वधर्म की धारणा सामाजिक भूमिकाओं की जड़ता को पोषित कर सकती है? परम्परागत वर्णाश्रम-सन्दर्भ में ऐसा आरोप लगता रहा है। आधुनिक चिन्तक इसे स्वभावानुसार कर्म-चयन के रूप में पढ़ते हैं [7-9]। यह तर्क सुसंगत है, पर ऐतिहासिक सन्दर्भ की अनदेखी नहीं होनी चाहिए।

तीसरा प्रश्न: क्या गीता का सन्देश संरचनात्मक शोषण या अत्यधिक कार्यभार वाली परिस्थितियों में "बस काम करते रहो" का औचित्य बन सकता है? यह जोखिम वास्तविक है। बाकर और डेमेरूटी का मॉडल बताता है कि तनाव का एक बड़ा भाग संगठनात्मक माँग और संसाधन-असन्तुलन से आता है [31], जिसे केवल व्यक्ति की मानसिक साधना से हल नहीं किया जा सकता।

इसलिए कर्मयोग को संस्थागत सुधार का विकल्प नहीं, उसका पूरक मानना चाहिए। गीता का लोकसंग्रह और "युक्त चेष्टा" का भाव स्वयं इस सन्तुलन की ओर संकेत करता है (3.20, 6.17)।

चौथा प्रश्न: क्या पाश्चात्य अवधारणाओं से तुलना गीता को उनके सामने "प्रमाणित" करने की औपनिवेशिक प्रवृत्ति नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर पद्धतिगत है। यह अध्ययन गीता की वैधता किसी बाहरी सिद्धान्त से नहीं जाँचता, बल्कि पारस्परिक संवाद और पूरकता की खोज करता है। दोनों दिशाओं में प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

8. विश्लेषण से प्राप्त परिणाम और चर्चा

समग्र विश्लेषण से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं।

परिणाम 1: कर्मयोग की वैचारिक संरचना। गीता का कर्मयोग चार स्तम्भों पर टिका है: (क) कर्म की अपरिहार्यता (3.5), (ख) फलासक्ति-त्याग (2.47), (ग) समत्व (2.48) और (घ) लोकसंग्रह (3.20)। इन चारों में परस्पर सुसंगति है। समत्व के बिना फलासक्ति-त्याग टिकता नहीं, और लोकसंग्रह के बिना कर्म स्वार्थ में बदल सकता है।

परिणाम 2: आचार्य-परम्परा में मतभेद के बावजूद केन्द्रीय सहमति। ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान, भक्ति-प्रधान और समन्वयी, सभी व्याख्याएँ आसक्ति-रहित कर्म को गीता की केन्द्रीय शिक्षा मानती हैं [1,6-8,17,18]।

परिणाम 3: आधुनिक शोध से संगति। आत्म-निर्धारण, लक्ष्य-सिद्धान्त, फलो, अर्थ-मनोविज्ञान, सजगता और जॉब क्राफ्टिंग जैसी अवधारणाओं से कर्मयोग का व्यापक मेल दिखा [33-39]। यह मेल वैचारिक और विश्लेषणात्मक है, प्रयोगात्मक रूप से प्रमाणित सिद्धान्त नहीं। यह सीमा स्पष्ट रूप से स्वीकार की जानी चाहिए।

परिणाम 4: नैतिक तुलना। कांट, अरस्तू और वेबर की तुलना में गीता का विशिष्ट योगदान यह है कि वह कर्तव्य, सद्गुण और कर्म-निष्ठा को अनासक्ति और अर्पण के आध्यात्मिक सन्दर्भ में जोड़ती है [42-44]।

परिणाम 5: सीमाएँ और सावधानियाँ। कर्मयोग को व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक उपाय के रूप में तो सार्थक पाया गया, पर इसे संरचनात्मक कार्य-सम्बन्धी समस्याओं का एकमात्र समाधान नहीं माना जा सकता [25,31]।

8.1 आधुनिक जीवनशैली के लिए व्यावहारिक निहितार्थ

विश्लेषण से कुछ व्यावहारिक सूत्र निकलते हैं, जो गीता के पाठ पर आधारित हैं और आधुनिक शोध से संगत हैं:

प्रक्रिया पर ध्यान: परिणाम की निरन्तर चिन्ता के बजाय वर्तमान कार्य की गुणवत्ता पर ध्यान (2.47)। यह प्रवाह-अवस्था और सजगता से जुड़ता है [35,37]।

असफलता का स्वीकार: सफलता और असफलता को अनित्य अनुभव मानना (2.14, 2.48)। यह भावनात्मक नियमन और मानसिक लचीलापन विकसित करता है [32]।

कर्म की गुणवत्ता: निष्क्रियता और अति-सक्रियता, दोनों से बचकर कौशलपूर्ण कर्म (2.50, 6.17)। यह बर्नआउट की रोकथाम की दिशा में उपयोगी है [3,31]।

कार्य को अर्थ देना: अपने कर्तव्य में लोकहित और उच्चतर प्रयोजन देखना (3.9, 18.46)। यह जॉब क्राफ्टिंग और अर्थ-मनोविज्ञान से संगत है [36,39]।

दैनिक सन्तुलन: आहार, निद्रा, श्रम और विश्राम में मर्यादा (6.17)।

आत्म-उत्तरदायित्व: स्वयं को मित्र बनाना, शत्रु नहीं (6.5)। यह आत्म-करुणा और आत्म-प्रभाविता को बल देता है [40]।

नेतृत्व में आदर्श-आचरण: श्रेष्ठ का आचरण ही समाज का पाठ बनता है (3.21)।

8.2 अध्ययन की सीमाएँ

इस अध्ययन की कुछ सीमाएँ हैं। पहली, यह प्रयोगात्मक नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक साहित्यिक अध्ययन है, इसलिए कारण-प्रभाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं किए गए। दूसरी, स्रोतों का चयन प्रतिनिधिक है, समग्र नहीं। तीसरी, गीता की व्याख्या-परम्परा इतनी विशाल है कि प्रत्येक भाष्य का समावेश सम्भव नहीं था। चौथी, भारतीय सन्दर्भ में अनुभवजन्य अध्ययन अभी कम हैं, अतः भविष्य के शोध की आवश्यकता बनी रहती है।

8.3 भावी शोध के सुझाव

भविष्य में निम्न दिशाओं में शोध उपयोगी होगा: (क) कर्मयोग-आधारित प्रशिक्षण कार्यक्रमों का नियन्त्रित प्रयोगात्मक अध्ययन; (ख) विभिन्न आयु-वर्ग और पेशों में कर्मयोग-अभिवृत्ति और मानसिक स्वास्थ्य के सह-सम्बन्ध का अध्ययन; (ग) हिन्दी और संस्कृत की विभिन्न भाष्य-परम्पराओं का तुलनात्मक पाठ; (घ) शिक्षा और स्वास्थ्य-सेवा जैसे क्षेत्रों में गीता-आधारित नैतिक ढाँचों की व्यावहारिकता का अध्ययन।

9. निष्कर्ष

श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग मनुष्य को कर्म से दूर नहीं ले जाता, कर्म के भीतर स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाता है। उसका सूत्र "योगः कर्मसु कौशलम्" कर्म को साधना, और साधना को कर्म बना देता है। आधुनिक जीवनशैली, जो गति, तुलना और परिणाम-दबाव से भरी है, गीता के इस सन्देश की पहले से अधिक अपेक्षा रखती है।

इस अध्ययन ने दिखाया कि शास्त्रीय भाष्यों, आधुनिक भारतीय चिन्तकों, पाश्चात्य विद्वानों और समकालीन मनोविज्ञान के बीच कर्मयोग की केन्द्रीय शिक्षा को लेकर व्यापक सहमति है, जबकि उसके अन्तिम लक्ष्य (ज्ञान, भक्ति या लोकसंग्रह) को लेकर स्वाभाविक विविधता है। तुलनात्मक विश्लेषण से पता चला कि फलासक्ति-त्याग, समत्व और अर्थपूर्ण कर्म की धारणाएँ आत्म-निर्धारण, प्रवाह, अर्थ-केन्द्रित मनोविज्ञान और सजगता से गहरा मेल रखती हैं, यद्यपि यह मेल अभी मुख्यतः वैचारिक स्तर पर है।

साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ कि कर्मयोग को आधुनिक "उत्पादकता-तकनीक" में सीमित कर देना उसकी आत्मा के प्रतिकूल होगा। उसका मूल भाव नैतिक और आध्यात्मिक है, जिसमें कर्म का अर्पण, समत्व की साधना और लोकहित की दृष्टि अविभाज्य है। संरचनात्मक कार्य-दबाव जैसी समस्याओं के समाधान में वह संस्थागत सुधारों का विकल्प नहीं, पूरक है।

अन्ततः गीता का सन्देश आज भी उतना ही सरल और उतना ही कठिन है: कर्तव्य करो, पूरी निष्ठा से करो, और परिणाम के प्रति मन को मुक्त रखो। यही "कर्मण्येवाधिकारस्ते" का सार है, और यही आधुनिक जीवन के थके हुए, विचलित और अर्थ की खोज में लगे मनुष्य के लिए गीता का शाश्वत आमन्त्रण है।

सन्दर्भ

1. शंकराचार्य. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य (हिन्दी अनुवाद सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस; 2008.
2. Sukthankar VS. On the Meaning of the Mahabharata. Bombay: Asiatic Society of Bombay; 1957.
3. Maslach C, Schaufeli WB, Leiter MP. Job burnout. Annu Rev Psychol. 2001;52:397-422.
4. World Health Organization. International Classification of Diseases, 11th Revision (ICD-11). Geneva: World Health Organization; 2019.
5. Han BC. The Burnout Society. Stanford: Stanford University Press; 2015.
6. तिलक बाल गंगाधर. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र. पुणे: तिलक ब्रदर्स; 1915.
7. गांधी मोहनदास कर्मचन्द. अनासक्तियोग (गीता-बोध). अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन मन्दिर; 1930.
8. Aurobindo S. Essays on the Gita. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram; 1922.
9. भावे विनोबा. गीता प्रवचन. वर्धा: परधाम प्रकाशन; 1932.
10. रामसुखदास स्वामी. साधक-संजीवनी. गोरखपुर: गीताप्रेस; 1990.
11. गोयन्दका जयदयाल. श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वविवेचनी. गोरखपुर: गीताप्रेस; 2007.
12. Radhakrishnan S. The Bhagavadgita. London: George Allen & Unwin; 1948.
13. Vivekananda S. Karma-Yoga. Calcutta: Advaita Ashrama; 1896.
14. उपाध्याय बलदेव. भारतीय दर्शन. वाराणसी: शारदा मन्दिर; 1957.
15. Chatterjee S, Datta D. An Introduction to Indian Philosophy. Calcutta: University of Calcutta; 1939.
16. Dasgupta S. A History of Indian Philosophy. Vol. 2. Cambridge: Cambridge University Press; 1932.
17. Edgerton F. The Bhagavad Gita. Cambridge (MA): Harvard University Press; 1944.
18. Zaehner RC. The Bhagavad-Gita. Oxford: Clarendon Press; 1969.
19. Minor RN. Bhagavad-Gita: An Exegetical Commentary. New Delhi: Heritage Publishers; 1982.
20. Malinar A. The Bhagavadgita: Doctrines and Contexts. Cambridge: Cambridge University Press; 2007.
21. Bhawuk DPS. Spirituality and Indian Psychology: Lessons from the Bhagavad-Gita. New York: Springer; 2011.
22. Rao KR, Paranjpe AC. Psychology in the Indian Tradition. New Delhi: Springer; 2016.
23. Mulla ZR, Krishnan VR. Karma-Yoga: The Indian model of moral development. J Bus Ethics. 2014;123(2):339-351.
24. Chakraborty SK. Foundations of Managerial Work: Contributions from Indian Thought. Bombay: Himalaya Publishing House; 1987.
25. Chakraborty SK, Chakraborty D. Spirituality in Management: Means or End? New Delhi: Oxford University Press; 2008.
26. Muniapan B, Satpathy B. The "Dharma" and "Karma" of CSR from the Bhagavad-Gita. J Human Values. 2013;19(2):173-187.
27. Pandey A, Gupta RK, Arora AP. Spiritual climate of business organizations and its impact on customers' experience. J Bus Ethics. 2009;88(2):313-332.
28. Sinha JBP. Multinationals in India: Managing the Interface of Cultures. New Delhi: Sage Publications; 2004.
29. ईशादि नौ उपनिषद् (शांकरभाष्य हिन्दी-अनुवाद सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस; 2007.
30. पतञ्जलि. पातञ्जलयोगदर्शन (व्यासभाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित). गोरखपुर: गीताप्रेस; 2005.
31. Bakker AB, Demerouti E. The Job Demands-Resources model: state of the art. J Manag Psychol. 2007;22(3):309-328.
32. Lazarus RS, Folkman S. Stress, Appraisal, and Coping. New York: Springer; 1984.



थाती शोध
पत्रिका

थाती शोध पत्रिका
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक सहकर्म-समीक्षित, ओपन एक्सेस शोध पत्रिका
ISSN(O) : 2584-2722
वर्ष 2, अंक 2, जनवरी - मार्च 2025
Online Available : <https://thati.net/>

33. Ryan RM, Deci EL. Self-determination theory and the facilitation of intrinsic motivation, social development, and well-being. *Am Psychol.* 2000;55(1):68-78.
34. Locke EA, Latham GP. Building a practically useful theory of goal setting and task motivation: a 35-year odyssey. *Am Psychol.* 2002;57(9):705-717.
35. Csikszentmihalyi M. *Flow: The Psychology of Optimal Experience.* New York: Harper & Row; 1990.
36. Frankl VE. *Man's Search for Meaning.* Boston: Beacon Press; 2006.
37. Kabat-Zinn J. *Full Catastrophe Living.* New York: Delacorte Press; 1990.
38. Sharma M, Rush SE. Mindfulness-based stress reduction as a stress management intervention for healthy individuals: a systematic review. *J Evid Based Complementary Altern Med.* 2014;19(4):271-286.
39. Wrzesniewski A, Dutton JE. Crafting a job: revisioning employees as active crafters of their work. *Acad Manage Rev.* 2001;26(2):179-201.
40. Bandura A. Self-efficacy: toward a unifying theory of behavioral change. *Psychol Rev.* 1977;84(2):191-215.
41. Seligman MEP, Csikszentmihalyi M. Positive psychology: an introduction. *Am Psychol.* 2000;55(1):5-14.
42. Kant I. *Groundwork of the Metaphysics of Morals.* Gregor M, translator. Cambridge: Cambridge University Press; 1998.
43. Aristotle. *Nicomachean Ethics.* Ross WD, translator. Oxford: Oxford University Press; 1925.
44. Weber M. *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism.* Parsons T, translator. London: George Allen & Unwin; 1930.